इकाई 11 बौद्धिक विकास और तपश्चर्या*

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 छठी शताब्दी बी.सी.ई. के समाज और धर्म में परिवर्तन

11.3 तपश्चर्या (वैराग्य) का आरंभ

11.4 *उपनिषदों* का चिन्तन

11.4.1 *आत्मन्-ब्रह्मन्*

11.4.2 *स्थानांतरणगमन* (Transmigration) का सिद्धांत

11.4.3 मुक्ति का सिद्धांत

11.5 *शड़दर्शन* या दर्शन की छह प्रणालियाँ

11.6 नास्तिक विचारों के मत

11.6.1 बौद्ध धर्म

11.6.2 जैन धर्म

11.6.3 संशयवाद और भौतिकवाद

11.7 सारांश

11.8 शब्दावली

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.10 संदर्भ ग्रंथ

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप सीखेंगे :

- छठी शताब्दी बी.सी.ई. की अवधि में बौद्धिक विकास;
- उपनिषदों के चिंतन की मुख्य विशेषताएं;
- दर्शन की छह प्रणालियां;
- बौद्ध और जैन धर्मों का दर्शन; और
- तपश्चर्या और कैसे यह रूढ़िवादी और विधर्मिक समूहों में सम्मिलित किया गया।

11.1 प्रस्तावना

इससे पहले कि हम छठी शताब्दी बी.सी.ई. के प्रमुख सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में विकास के बारे में जाने या 'द्वितीय नगरीकरण' की प्रक्रियाओं, शहरों और कस्बों के उद्भव, *जनपदों* और *महाजनपदों* के उदय, बौद्ध और जैन धर्म जैसे नए धर्मों के विकास की प्रक्रियाओं का अध्ययन करें, हम इस इकाई में हम छठी शताब्दी बी.सी.ई. में हुई बौद्धिक विकास की प्रक्रिया को देखेंगे।

* डॉ. शुचि दयाल, सलाहकार, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली।

भारतीय उपमहाद्वीप ने प्रथम सहस्राब्दी बी.सी.ई. के मध्य में चिंतनशील विचारों को फलते-फूलते देखा। नई विचारधाराएं उभरीं। हालांकि इस तरह के विचार अपरिपक्व रूप में वेदों में उपस्थित थे; नए बौद्धिक विचार विधर्मिक संप्रदायों में भिन्न तरीकों से और अधिक परिपक्वता से विकसित हुए। ब्राह्मणवादी रूढ़िवादी परम्परा के उपनिषदों ने इस परिवर्तन को संपुहित किया। विधर्मिक परम्परा में अनेक विचार उभरे, जो यज्ञ की प्रभावकारिता पर प्रश्न उठा रहे थे और वैदिक शिक्षा की वैधता के विरूद्ध थे। इस इकाई में हम उनके बारे में सीखेंगे।

11.2 छठी शताब्दी बी.सी.ई. के समाज और धर्म में परिवर्तन

छठी शताब्दी बी.सी.ई. का युग परिवर्तनों का युग था। पुराना कबीलाई समाज दम तोड़ रहा था। कबीलाई एकजुटता द्वारा मिलने वाली सुरक्षा और आराम की भावना का क्षय हो गया। बैचैनी की गहरी भावना से कुछ लोगों ने तपश्चर्या का रूख लिया।

उत्तर वैदिक काल में मुख्यतः उपनिषदों में 'मृत्यु के बाद जीवन' के बारे में नए विचार पहले से ही व्यक्त किये गये थे। ज्ञान की खोज व वैदिक अनुष्ठान के साथ बढ़ते असंतोष ने कुछ लोगों को सत्य की खोज में सामाजिक दायित्वों से बाहर निकलने के लिए प्रोत्साहित किया। इन त्यागकर्ताओं ने समाज को बदलने की नहीं बल्कि एक तरफ़ खड़े होकर वैकल्पिक व्यवस्था बनाने की इच्छा जताई। सामंज्य की इस खोज ने विभिन्न विधर्मिक संप्रदायों के उद्‌भव में योगदान दिया। यज्ञ और बलि ब्राह्मणवादी धर्म की मुख्य विशेषता थी। वेदों में बलि के महत्व को प्रतिष्ठित किया गया जो कबीलों के धनी और शक्तिशाली प्रमुखों की ओर से शुरू किए गए थे। बलि का मुख्य उद्‌देश्य देवताओं को संतुष्ट कर बदले में उनसे वरदान प्राप्त करना था। इन बलि का उद्देश्य इच्छाओं की पूर्ति, अधिक से अधिक धन, पुत्र, पशु, युद्ध में सफलता और लंबे जीवन के लिए था। पुरोहितों की मध्यस्थता से यह सब एवं अन्य बहुत कुछ सुनिश्चित किया जाता था। केवल पुरोहित अनुष्ठान और बलि की विधियों की जटिलताओं से परिचित थे और जानते थे कि किस प्रकार ईश्वर को खुश करके असीम शक्ति प्राप्त की जा सकती है।

समायोजन की इस खोज ने विभिन्न विधर्मिक सम्प्रदायों को जन्म दिया। उत्तर वैदिक काल की धार्मिक विचारधारा में अनेक परिवर्तन देखे जा सकते हैं। उत्तर वैदिक काल से ही बलि का महत्व बढ़ता गया। ब्रह्मांड को भी बलि से उत्पन्न माना गया। नियमित बलियों ने ब्रह्मंड की निरंतरता को सुनिश्चित कर अराजकता को रोका। इस प्रकार देवता गौण थे और बलि विधि में मध्यस्थ रहे ब्राह्मणों की भूमिका अग्रणी हो गयी जो अपने यजमान के लिए खुशी और सामाजिक प्रतिष्ठा ला सकते थे या इसके विपरीत अनुष्ठान में थोड़ी सी भिन्नता से उसे नष्ट भी कर सकते थे। हालांकि इस समय वैदिक धर्म के कठोर रीति-रिवाजों के प्रति अंसतोष भी आरम्भ हो गया। बलि प्रथा को अब अमान्य माना जाने लगा। बौद्ध और जैन ग्रंथों ने कई स्थानों पर ब्राह्मण के बलिदानों और अनुष्ठानों की आलोचना की और वे ब्राह्मण विरोधी रुख अपनाते थे। इसके अलावा सामाजिक बनावट में कुछ खास बदलाव भी विनाशकारी साबित हो रहे थे। लोगों में असंतोष की गहरी भावना प्रबल हो रही थी। ''द्वितीय नगरीकरण'' के प्रभाव ने नए नगरों, मुद्राओं, धन के नए रूपों और अमीर लोगों की नई श्रेणीं *सेठी* और *गहपति* (बेहद अमीर व्यापारियों और वित् प्रबन्धकों) के उदय की शुरुआत की। यह समृद्धि लौहे के उपयोग पर आधारित थी जिसके कारण वनों की कटाई और भूमि की उपलब्धता संभव हो पाई। हल विधि से कृषि के विस्तार और अधिशेष ने नए राज्यों के उद्‌भव को संभव बनाया। ये थे – राजतंत्र और गणतंत्र। क्षत्रिय शक्तिशाली हो गए, और भूमि और धन समृधि की नई कसौटी बन गए। मवेशी अब इतने महत्वपूर्ण नहीं

रह गये थे। *जनपदों* की राजधानियाँ जैसे कोशाम्बी, काशी, अयोध्या और राजगृह आदि प्रमुख व्यापारिक नगर भी थे। इस जीवंत अर्थव्यवस्था की अन्य विशेषताएं थीं : धातु की मुद्रा का उपयोग, व्यापार, व्यापार नेटवर्क, सूदखोरी, सामाजिक स्तरीकरण, श्रेणियाँ (guilds) और अलगाव की भावना में वृद्धि। यह विकास अन्य परिवर्तनों में भी संलग्न हो गया। प्रारम्भिक अवधि की काबिलाई पदानुक्रम ने क्षेत्रीय पहचान को रास्ता दिखाया। *जनपदों* और *महाजनपदों* का उदय हुआ। इन *जनपदों* के नाम *क्षत्रियों* अथवा दूसरे *जन* (कबीलों) के नाम पर रखे गए जैसे गांधार, कुरू, पांचाल, मत्स्य, चेदि, काशी, कोशल, मगध आदि। क्षत्रियों द्वारा शक्ति और सत्ता का उपयोग किया गया और बल का प्रयोग वैध हो गया। यह एक उत्तर कबिलाई समाज था जिसमें नातेदारी समूह टूट रहे थे। यह बढ़ता हुआ वर्गीकृत समाज उनका विरोध करता था जो उसके मानदंडों के अनुरूप नहीं थे। एक नई व्यवस्था अस्तित्व में आ रही थी। *मैत्रीयणी उपनिषद* में एक राजा इस प्रकार बोलता है, *''मैं एक सूखे कुएं के मेढ़क की तरह हूं''*। यह बढ़ती असुरक्षा का संकेत है। कठिन समय से बच निकलने के प्रयास ने विधर्मिक संप्रदायों के उद्भव को बढ़ावा दिया।

इसके अतिरिक्त, मानव की मुक्ति या मोक्ष के मौलिक प्रश्नों के उत्तर खोजने की तीव्र इच्छा का उदय हुआ। विभिन्न विचार दिये गये लेकिन कोई भी संतोषजनक नहीं पाया गया। कई लोगों का मानना था कि समाज में हो रहे इस निरंतर परिवर्तन की समस्या का समाधान तपस्चर्या था। इसके अतिरिक्त चिन्तन या तपस्या के माध्यम से एक व्यक्ति आत्म ज्ञान प्राप्त कर सकता था जो उसे देवताओं से भी श्रेष्ठ बना सकता था। व्यक्ति तपश्चर्या से सभी सामाजिक संबंधों और दायित्वों से मुक्त हो सकता था और बदले में तपस्वी की नैतिक स्थिति बलि करवाने वाले पुरोहित की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित हो जाती थी।

इन चिंतनशील विचारों का उद्भव क्या सिर्फ 'जीवन निषेध' का एक रूप था? या नहीं भी हो सकता है। तपस्वी ना केवल निराशावाद से बचने की कोशिश कर रहे थे बल्कि सच्चे ज्ञान की खोज में भी थे। *वेदों* में उपलब्ध ज्ञान को पर्याप्त नहीं समझा गया। *ऋग्वेद* में सृजन के प्रश्नों के उद्भव के साथ, ब्रह्मांड और मानव के बारे में प्रश्न उभरे। सृजन के सूक्त में, दार्शनिक संदेह का प्रारम्भिक प्रतिनिधित्व है और उससे अमूर्त विचार के आरम्भ की नीवं पड़ी। छठी शताब्दी बी.सी.ई. में ब्रहांड की उत्पत्ति, आत्मन् की प्रकृति, ब्रह्मांडीय ऊर्जा और उभरती चेतना से संबंधित विस्मयकारी अटकलों और वैकल्पिक विचारों की उत्पति हुई। इनमें से कुछ विचारों को ब्राह्मणवादी प्रणाली द्वारा स्वीकार कर *उपनिषदों* में सम्मिलित किया गया जो रूढ़िवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते थे। दूसरे विचारों ने विधर्मिक संप्रदायों की उत्पत्ति में सहयोग दिया जो *वेदों* के सत्ता और ब्राह्मणवादी कर्म कांडो के प्रभाव में विश्वास नहीं करते थे।

रूढ़िवादी परम्परा के अनुसार ब्रह्मांड का उदय आदियुगीन बलि से हुआ था। बाद में *तपस* (सन्यास से प्राप्त शक्ति) ने सृष्टि सृजन के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अन्य विधर्मिक उपदेशकों ने सृष्टि की प्राकृतिक और अनीश्वरवादी सिद्धांतों की रचना की। उनके अनुसार ब्रह्मांड की उत्पत्ति जल, अग्नि, वायु और आकाश द्वारा हुई। कुछ के लिए, ब्रह्मांड की उत्पति किसी भी देवता या किसी भी व्यक्तिगत इकाई के कारण नहीं अपितु भाग्य (*नियति*), समय (*काल*), प्रकृति (*स्वभाव*) या अवसर (*संगति*) के कारण हुई। यह माना जाने लगा कि संसार की उत्पत्ति किसी बाहरी ताकत की वजह से नहीं बल्कि आंतरिक विकास या 'परिपक्वता' (*परिणाम*) के कारण हुई थी। बुद्ध का मानना था कि प्रथम कारणों पर कोई भी विचार व्यर्थ थे। कुछ और लोग जो संशयवादी (Pyrrhonists) थे उन्होंने किसी भी खास ज्ञान की संभावना से इन्कार कर दिया। भौतिकवाद ने आत्मन् और अन्य सभी अभौतिक वस्तुओं के अस्तित्व को नकार दिया। कुछ परमाणु सिद्धांत में विश्वास करते थे। इस प्रकार

छठी शताब्दी बी.सी.ई. का बौद्धिक जीवन स्पंदनशील विचारों और मूल प्रश्नों से ओतप्रोत था।

इन चिंतनशील विचारों के अग्रणी लोग तपस्वी थे। बहरहाल इस काल के साहित्य में कुछ उत्सुक क्षत्रियों का भी उल्लेख है, उदाहरण के लिए, विदेह के जनक, कैकेय के अश्वपति, कोशल के हिरन्य-नाभा, काशी (वाराणसी) के अजातशत्रु, कुरू पांचाल के प्रवाहना जैवाली।

11.3 तपश्चर्या (वैराग्य) का आरंभ

'तपस्वी' शब्द का तात्पर्य एक ऐसे व्यक्ति से है, जिसने सांसारिक सुखों का त्याग कर दिया हो; समाज का त्याग कर स्वयं को समाज से दूर कर दिया हो। पहली शताब्दी बी.सी.ई. के मध्य, वह परम वास्वविकता को समझने के लिए संघर्ष कर रहे थे, सभी बंधनों से मुक्त हो परमानंद (*आनंद*) की खोज के लिए। वह तपस्या (*तपस*) और *ध्यान* का उपयोग अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए करते थे।

तपश्चर्या कोई अनोखी वस्तु नहीं थी। *ऋग्वेद* में बाद की स्तुतियों में हमें ऐसे पवित्र पुरुषों के एक वर्ग के संदर्भ मिलते है जो ब्राह्मणों से अलग थे। उन्हें *मुनि* कहा जाता था। वे नग्न रहते, अनुष्ठानिक मौन बनाए रखते, और वे अर्ध-देवताओं और पक्षियों के साथ रहते थे। उन्होंने विशेष शक्तियां प्राप्त कर ली थीं जिन्होंने उन्हें साधारण मनुष्यों से अलग कर दिया था। वहीं *अथर्वेद* में *'वृत्य'* नामक पुरुषों की श्रेणी का उल्लेख है। इसका अर्थ उन आर्यों से था जो *वेदों* की पवित्रता में विश्वास नहीं करते थे। इन्हें हम गैर-वैदिक पंथ के एक पुजारी के रूप में भी मान सकते हैं। इस प्रकार कतिपय वैकल्पिक विचार, जो *वेदों* की शुद्धता पर आधारित नहीं थे, उत्तर वैदिक काल में उभरने लगे। उन्हें ब्राह्मणवादी व्यवस्था में सम्मिलित करने के सभी संभव प्रयास किये गए और इसने नए सिद्धांतों और प्रथाओं को आधार प्रदान किया।

उपनिषदों के समय तक तपस्वी होना आम हो गया था। उन्होंने नई शिक्षाओं और आध्यात्मिक सिद्धांतों को प्रस्तुत किया। पहली शताब्दी बी.सी.ई. के मध्य में, तपस्वी ने स्वमं को सभी से अलग कर एकांतवास अपनाया, या अन्य तपस्वियों के साथ एक समूह के रूप में सम्मिलित हो किसी गुरू या शिक्षक का अनुगमन किया। जो किसी एक संप्रदाय से जुड़े गये थे, उन्हें अपने आचरण और व्यवहार पर कुछ प्रतिबंधों का पालन करना पड़ता था। वे जाति के नियमों का पालन नहीं कर सकते थे, ब्रह्मचर्य अपनाते, संपत्ति अर्जित नहीं कर सकते थे, खाद्य-निषेध नियमों को तोड़ते थे, और उन्होंने विशिष्ट बाह्य प्रतीकों (अंगवस्त्रम, या नग्न अवस्था) को धारण किया। वैदिक साहित्य, *आरणयक* और *उपनिषदों* में वर्णित तपस्वी समूह अत्यधिक रूप से तपस्या को समर्पित थे।

तपस्वी, श्रमण, संन्यासी, परिव्राजक, योगी आदि कुछ शब्द हमें ग्रंथों में मिलते हैं। वे सब त्यागी थे, जिन्होंने सांसारिक सुखों का त्याग कर तपस्या का जीवन अपनाया। वे शरीर के क्रियाकलापों (मुख्य रूप से श्वास) को नियंत्रित करते और अंतिम सत्य की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान भटकते। *परिव्राजक* एक युवक थे, जो *ग्रहस्थ* जीवन में प्रवेश करने से पहले कुछ समय घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते किन्तु अधिकतर *परिव्राजक* स्थाई परित्याग की स्थिति में थे।

अधिकांश तपस्वी अकेले या किसी गुरू के मार्गदर्शन वाले समूहों में एक स्थान से दूसरे स्थान भटकते थे। वे *कौतुहल-शाला* (चर्चा के स्थल) में आयोजित दार्शनिक विषयों की चर्चाओं में भाग लेते। कुछ ब्राह्मण तपस्वी जंगलों में आश्रमों में रहते थे, जो कभी-कभार

अपने परिवारों के साथ ब्रह्मचर्य स्थिति में जीवन व्यतीत करते थे। वे अभ्रमणशील थे। उन्होंने यह दावा किया कि ध्यान और गंभीर तपस्या ने उन्हें जादुई शक्ति से सन्निहित कर दिया था। उन्होंने गुप्त शक्तियों को प्राप्त किया। जो पहाड़ों को धूल की तरह उखाड़ सकती थी, नदियों को सुखा सकती थी, नाराज होने पर विरोधियों को जलाकर राख कर सकती थी, नगर की रक्षा, और संपत्ति में वृद्धि आदि बहुत कुछ कर सकती थी। बलि और यज्ञ से प्राप्त होने वाली शक्ति को अब तपस्या और ध्यान (योग) को हस्तांतरित किया गया था।

जिन्होंने तपश्चर्या को अपनाया उन्होंने देर-सवेर प्रकृति की वास्तविकता में अंतर्दृष्टि प्राप्त की। उन्होंने ब्रह्मांड के रहस्य को समझा, ब्रह्मांड की प्रकृति और जीवन और मौत से परे परमानन्द पाया। इसके साथ उनको परम-मुक्ति का एहसास भी हो रहा था। मोक्ष को प्राप्त करने वाला ''विजेताओं का विजेता'' हो गया। सभी संप्रदायों ने इस अनुभव को प्राप्त करने की कोशिश की किन्तु उनकी व्याख्याएँ अलग-अलग थीं। तपश्चर्या और रहस्यवाद का विकास जल्द ही ब्राह्मणों के लिए एक चुनौती बन गया। वे शीघ्रता से इस तत्व को अपनी विचारधारा में सम्मिलित करना चाहते थे। जीवन में चार चरणों के आश्रम सिद्धांत को पहली बार *धर्मसूत्र* में प्रतिपादित किया गया। *आश्रम* सिद्धांत में जीवन-चक्र में चार चरणों के लिए प्रयुक्त शब्द थे, *ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ* और *संन्यास*। *संन्यास* चौथा और अंतिम चरण था। सामाजिक दायित्वों के निर्वाह के बाद ही एक व्यक्ति सन्यासी बन सकता था। व्यक्ति द्वारा *गृहस्थ* जीवन के सामाजिक दायित्वों को पूरा करने के बाद ही उसे इस प्रणाली की चौथी श्रेणी को चुनने का अवसर मिलता था। यह सुनिश्चित करने के लिए इस बात पर बल इसलिए दिया गया था कि सामाजिक असंतोष न बढ़े। बौद्ध और जैन धर्म में गृहस्थ चरण का त्याग कर कोई व्यक्ति बिना गृह दायित्व की भूमिका निभाये भी तपस्वी बन सकता था। यही कारण है कि उनके सिद्धांत अन्य स्थापित सामाजिक व्यवस्थाओं को चुनौती दे रहे थे। जिन मनीशियों ने परंपरागत मार्ग का अनुसरण किया, उनकी चर्चाओं और शिक्षाओं को *आरण्यको* और *उपनिषदों* में सम्मिलित किया गया। इस प्रकार हम पाते है कि *योग* परम्परा जो पारंपरिक रूढ़िवादी हिंदू प्रणाली का हिस्सा थी, इस समय तक विकसित हो चुकी थी।

11.4 उपनिषदों का चिंतन

उपनिषद आत्मन्, परम यथार्थ (*ब्रह्मन्*), *कर्म, योग, संसार* (सांसारिक अस्तित्व), *मोक्ष* (ज्ञानोदय), *पुरुष* (मनुष्य) और *प्रकृति* के बारे में प्रमुख दार्शनिक सिद्धांतों के प्रारंभिक दर्ज प्रवचन हैं। प्रमुख उपनिषदों को आठवीं से छठी शताब्दी बी.सी.ई. के बीच की अवधि में लिपिबद्ध किया गया। ये वेदों के दार्शनिक विचारों से उत्तर वैदिक काल में उभरी नई विचारधाराओं के विकास के संक्रमण का प्रतिनिधित्व करती हैं।

'उपनिषद', शब्द तीन भागों से बना है : उप+नी+षद्, जिसका अर्थ है कि यह उस छात्र को प्रदान किया उपदेश था जो 'एक शिक्षक के निकट बैठा है'। इसका अर्थ 'रहस्य' भी है, यह दर्शाता है कि यह एक गुप्त सिद्धांत था जिसका ज्ञान इस प्रकार के उपदेश पाने योग्य केवल कुछ लोगों को ही दिया जाना चाहिए था।

उपनिषदों ने एक बदलाव का प्रतिनिधित्व किया कि कैसे ज्ञान की तलाश की जा रही थी। वेदों के अंतर्ज्ञान की स्वीकृति से इस संभावना की ओर बदलाव था कि ज्ञान को प्रेरणा, अवलोकन और विश्लेषण के माध्यम से भी प्राप्त किया जा सकता था। इससे पहले वैदिक बलि के दौरान, *यजमान* एक बाह्मण पुजारी की मध्यस्थता से ही बलि का आरम्भ कर

सकता था। *उपनिषद* इसके विपरीत, किसी पुजारी की मध्यस्थता या किसी भी बिचौलियों की उपस्थिति के बिना आत्मन् की परम मुक्ति के लिए एक खोज थी। *उपनिषद* धर्म ने वैदिक देवताओं की भूमिका को कमतर देखा और इनका उद्देश्य भगवान इंद्र के साथ स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति नहीं था बल्कि सभी बंधन से मुक्ति यानी *मोक्ष* था। यह महसूस किया जाने लगा कि केवल वैदिक कर्मकांड से किसी को *ब्रह्मन्* की प्राप्ति नहीं हो सकती।

परम वास्तविकता और इसे प्राप्त किये जाने हेतु नए विचारों से सन्निहित वैकल्पिक विश्वास प्रणाली विकसित की गयीं। प्रसन्नता को बढ़ावा देने में यज्ञ की प्रभावकारिता के बारे में संदेह उठने लगे। अब विवादास्पद प्रश्न थे : वास्तविकता क्या है? मृत्यु और अमरता के प्रश्न किस प्रकार स्वत्व (Self), पुनर्जन्म और प्रतिफल की धारणाओं से बंधे हुए हैं? मोक्ष कैसे प्राप्त किया जा सकता है? अनुभूति की नई तकनीकियों की धारणा जिसमें *ध्यान* और *योग* सम्मिलित हैं, के विकास के पीछे महत्वपूर्ण सोच थी। इस प्रेरक जीवन को प्राप्त करने का प्राकृतिक तरीका था तपश्चर्या (*तपस्*)। हालांकि त्याग के कुछ रूप वैदिक बलि परम्परा में भी उपस्थित थे। उदाहरण के लिए, फल या पशु के रूप में यजमान द्वारा यज्ञ में दी जाने वाली भेंट को व्यक्ति द्वारा त्याग के समान समझा गया। यद्यपि इसका उद्देश्य इंद्र के स्वर्ग-सुख की प्राप्ति था, किन्तु अब, उसका उद्देश्य निर्गमन या मुक्ति, मोक्ष में बदल गया।

यहाँ हम नीचे *उपनिषद* की मुख्य विशेषताओं पर चर्चा करेंगे।

11.4.1 *आत्मन्-ब्रह्मन्*

उपनिषद दो अवधारणाओं के बारे में हैं – *आत्मन्,* और *ब्रह्मन*। ये दोनों ही भारतीय दर्शन की आधारशिला बन गए हैं। *ब्रह्मन्* को सार्वभौमिक आत्मन् के रूप में कल्पित किया गया। *आत्मन्* व्यक्तिगत आत्मा है। *आत्मन्* एक सार है जो प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त है। यह जीवन शक्ति, चेतना या परम सत्य है। *छान्दोग्य उपनिषद* में ब्राह्मण उद्दालका अरूणि द्वारा निर्देश के रूप में अपने पुत्र श्वेतकेतु को दी गयी शिक्षा *आत्मन्* के सम्बन्ध में सबसे उल्लेखनीय है। उद्दालका अपने विवरण के आरम्भ में कहते है कि भौतिक सामग्री की सार्वभौमिकता के बारे में कोई व्यक्ति उसी सामग्री से निर्मित किसी विशेष वस्तु से पता लगा सकता है। उदाहरण के लिए, मिट्टी से बनी किसी वस्तु के माध्यम से, कोई मिट्टी का पता कर सकता है, तांबे के बने आभूषण के माध्यम से, कोई तांबे का पता कर सकता है। इन उदाहरणों द्वारा वह दर्शाते हैं कि पदार्थ का निर्माण शून्य (कुछ भी नहीं) से नहीं किया जा सकता। बल्कि निर्माण एक प्रक्रिया है जो एक मौलिक अस्तित्व (सत्) के माध्यम से आकारों की बहुलता में रूपांतरित हो जाता है। इस तरह के आकार हमारे रोजमर्रा के अनुभवों की विशेषता हैं। जैसे मधुमखियाँ विभिन्न स्रोतों से पराग एकत्र करती हैं, लेकिन यह एक साथ इकठ्ठा होते हुए यह एक अविभेदित ढेर बन जाता है; विभिन्न नदियाँ समुद्र में गिरने के बाद समुद्र से ही मिल जाती हैं इसी प्रकार *आत्मन्* प्रत्येक मनुष्य में व्यक्तिगत रूप से रहता है किन्तु *ब्रह्मन्* में विलीन होकर उसके साथ एक हो जाती है। इसके उपरांत उद्दालका अपने बेटे को एक गिलास पानी में नमक डालने के लिए कहता है। श्वेतकेतु वैसा करता है। किन्तु जब उसके पिता द्वारा नमक वापिस लाने के लिए कहा गया तो श्वेतकेतु नहीं कर सका क्योंकि नमक पानी में घुल गया। फिर आरूणि अपने बेटे से पानी का स्वाद पूछते हैं। पानी के नमकीन पाए जाने पर, आरूणि परम वास्तविकता पर श्वेतकेतु को उपदेश देते हैं। वे कहते हैं, *'मेरे पुत्र तुम यह नहीं मानते कि एक वास्तविकता (सत) तुम्हारे शरीर में मौजूद है, लेकिन यह वास्तव में वहीं है। सब कुछ जो अपने सूक्ष्म सार में हो रहा है यही वास्तविकता है! यही आत्मन् है ! और यह तुम हो, श्वेतकेतु*!'' (बैशम, ए.एल. से उद्धत (2004), पृ. 253)

उपनिषद स्वत्व और *ब्रह्मन्* के कठिन अर्थ को व्यक्त करने के लिए समृद्ध कल्पना का प्रयोग करते हैं। नीचे *आत्मन्* के अर्थ पर उद्दालका अरूणि और उसके बेटे श्वेतकेतु के बीच एक छोटी सी बातचीत है :

- *''बरगद के पेड़ का एक फल लाओ''।*
- *''यहां एक है, श्रीमान''।*
- *''इसे तोड़ो''।*
- *''मैंने इसे तोड़ा दिया, श्रीमान''।*
- *''आपने क्या देखा''?*
- *''बहुत छोटे बीच, श्रीमान''।*
- *''एक बीज तोड़ो''।*
- *''मैंने इसे तोड़ा, श्रीमान''।*
- *''अब क्या देख रहे हो''?*
- *''कुछ नहीं, श्रीमान''।*

''मेरे पुत्र, ''पिता ने कहा, ''जो तुम नहीं समझ पाए वह सारतत्व है, और उस सारतत्व में ताकतवर बरगद का वृक्ष मौजूद है। मेरा विश्वास करो, मेरे पुत्र, उस सारतत्व में सभी का *स्वत्व* है। जो सत्य है, वह *स्वत्व* है, और तुम वह *स्वत्व* हो, श्वेतकेतु''।

(*छन्दोग्य उपनिषद,* VI, 13, बैशम, ए. एल. से उद्धृत (2004), पृ. 252-3)

''ततत्वमअसि'', आप (व्यक्तिगत) वह (सार्वभौमिक सार) हैं, उपनिषदों का प्रमुख विषय है।

सश्र्व सर्जन के सम्बन्ध में उद्दालका की व्याख्या ने *सत्कार्यवाद* सिद्धांत को प्रभावित किया है – कि परिणाम कारण के भीतर मौजूद है। इसे *सांख्य, योग* और *वेदांत दर्शन* ने स्वीकार किया था। स्वत्व के बारे में उद्दालका की धारणाएं पूर्व वैदिक ग्रंथों की धारणाओं से अलग थीं जहां महत्व मानव शरीर या व्यक्तिगत व्यक्ति पर नहीं बल्कि आदिकालीन या आदर्श निकाय पर दिया गया।

(ब्लैक, ब्रायन, ''उपनिषद'', *इंटरनेट इनसायक्लोपीडिया ऑफ फिलोसफी*)

उपनिषदों का मानना था कि *आत्मन्* का ज्ञान मुक्ति या परम स्वतंत्रता की ओर ले जाता है। यह मुक्ति मृत्यु से मुक्ति है। *उपनिषदों* में याज्ञव्लक्य की शिक्षाओं के अनुसार *आत्मन्* शरीर के भीतर निवास करती है; इस *आत्मन्* के कारण शरीर जीवित है; जब मृत्यु आती है तो *आत्मन्* नहीं मरती अपितु दूसरे शरीर में एक नया स्थान बना लेती है।

वेदों के समापन भाग में ऋषियों ने एक सर्जनकर्ता या सृष्टि के नियंत्रक की संकल्पना की थी। वे इसे प्रजापति, विश्वकर्मा, पुरुष, *ब्रह्मांणस्पति, ब्रह्मन्* कहते थे। इस स्तर पर वह एक देवता ही थे। इस देवता के स्वरूप की खोज *उपनिषदों* में शुरू होती है। *उपनिषद* सिद्धांत के तत्व और योग का प्रतिनिधित्व आत्मन्=ब्रह्मन् के सूत्र द्वारा होता है। *ब्रह्मन्* का अर्थ है ब्रह्मांड का परम सार। *ब्रह्मन्* की स्थिति स्वप्नरहित नींद की स्थिति के समान है। *आत्मन्* न केवल मनुष्य में व्याप्त है, अपितु सब जगह मौजूद है – सूरज, चांद, संसार। *आत्मन् ब्रह्मन्* है।

जैसे लोहे के पिंड से ही लौहे से बनी वस्तुओं का ज्ञान होता है इसी प्रकार *आत्मन्* से *ब्रह्मन्* को जाना जाता है, अन्य सब का ज्ञान होता है। मनुष्य का सार और ब्रह्मांड का सार एक

है और समान भी है और यही *ब्रह्मन्* है। यह ब्रह्मांड में सबसे सक्रिय सिद्धांत है और अभी तक सबसे निष्क्रिय और अचल भी। इस प्रकार *मुण्डकोपनिशद्* में कहा गया है :

जैसे एक मकड़ी उगलती है और बुनती है (धागे),
जैसे पौधों के अंकुर पृथ्वी से फूटते हैं,
जैसे जीवित आदमी के सिर और शरीर पर बाल,
उसी प्रकार अविनाशी से यहाँ सब है।
जैसे आग जलाने से चिंगारी निकलती है,
प्रकृति में इसके सदृश, वसंत हजारों बार फूटता है,
तो, प्रियवर, अविनाशी से
कई प्रकार के जीवित प्राणी आगे आते हैं,
और फिर पुनः उसमें लौटते हैं।

(दासगुप्ता, सुरेंद्रनाथ, 2004, 49-50 में उद्धृत)

सार्वभौमिक सार को कभी-कभार विशुद्ध रूप से नकारात्मक शब्दों में परिभाषित किया जाता है। ''स्वत्न को केवल यह नहीं, यह नहीं'' के रूप में वर्णित किया जा सकता है। यह 'अबोधगम्य ...., अविनाशी, ..., असंलग्न ...., वंधन मुक्त है .... यह पीड़ित नहीं होता .... यह विफल नहीं होता।''

11.4.2 *स्थानांतरणगमन* (Transmigration) का सिद्धांत

स्थानांतरणगमन के विचार का आरम्भ *ऋग्वेद* के अंतिम भागों में हुआ है। यद्यपि *उपनिषदों* में यह सबसे उन्नत रूप में प्रस्तुत किया गया है। *बृहदारण्यक उपनिषद* में पहली बार एक विकसित रूप में यह सिद्धांत आया। यह सिद्धांत *उपनिषदों* में दो चरणों में विकसित हुआ। एक, *स्थानांतरण गमन* (Transmigration) के विचार का संयोजन परलोक में प्रतिफल के वैदिक विचार से किया गया, और दूसरे में परलोक में प्रतिफल के विचार का अतिक्रमण हेतु *स्थानांतरण गमन* (Transmigration) के विचार का आगमन हुआ। इस प्रकार यह कहा जाता है कि जो लोग धर्मपरायणता और अच्छे कर्म करते हैं वे मृत्यु के बाद पिता (*पित्रयान*) की तरह यात्रा करते हैं। उनकी आत्मन् सबसे पहले धुंएँ में प्रवेश करती है, फिर रात में, महीने के कृष्णपक्ष में, इत्यादि, और अंत में वह चांद पर पहुंचती हैः जिस समय तक उसके अच्छे कर्मों का प्रभाव रहता है वहाँ निवास के बाद वह फिर से आकाश, हवा, धुआं, धुंध, बादल, बारिश, जड़ी बूटी, भोजन और बीज के माध्यम से उतरती है, और मनुष्य द्वारा भोजन के आत्मसात के माध्यम से वह मां के गर्भ में प्रवेश करती है और फिर से जन्म लेता है। यहां हम देखते हैं कि आत्मन् चांद की दुनिया में प्रतिफलों का आनंद लेती है, लेकिन फिर से इस दुनिया में पुनर्जन्म लेती है। दूसरा रास्ता देवों (*देवयान*) का रास्ता है, जो आस्था ओर तपश्चर्या (तपस) का रास्ता अपनाने वालों के लिए होता है। मृत्यु के बाद आत्मन् क्रमिक रूप से लौ, 'दिन में, महीने के शुक्ल पक्ष में, वर्ष के आधे उज्ज्वल भाग में, सूर्य, चंद्रमा, बिजली, और फिर अंत में कभी नहीं लौटने के लिए ब्रह्म में प्रवेश करती है। डयूसन का कहना है कि सम्पूर्ण का अर्थ यह है कि आत्मन् देवताओं के रास्ते पर बढ़ते हुए प्रकाशपुंज के क्षेत्रों में पहुंचती है, जिसमें सब केन्द्रित हैं जो कि उज्ज्वल और दीप्तिमान स्थिति में हैं और रास्ते के पड़ावों से प्रकाशों के प्रकाश *ब्रह्मन्* के मार्ग पर जाती है। (दासगुप्ता में उद्धत, सुरेंद्रनाथ, 2004, पृ. 54)।

स्थानांतरणगमन (Transmigration) के सिद्धांत के दूसरे भाग में अच्छे कर्मों या बुरे का उल्लेख नहीं है या *देवयान* या *पित्रयान* का उल्लेख नहीं है इस विचार में स्वत्व स्वयं शरीर

कमज़ोर हो जाने पर इसको नष्ट कर देता है। जब यह वर्तमान के अंत तक पहुंचता है तब अपने कर्मों द्वारा एक नया और उत्तम ढांचा बनाता है। मृत्यु के समय, स्वत्व अपने भीतर ही सभी इंद्रियों और संकायों को एकत्र करता है और मृत्यु के बाद उसके सभी पिछले ज्ञान, काम और अनुभव उसके साथ जाते हैं। मौत के समय शरीर का नाश एक नए शरीर के निर्माण के लिए होता है या तो इस लोक में या अन्य लोकों में। स्वत्व जो इस प्रकार पुनर्जन्म लेता है, विविध श्रेणियों का समुच्चय माना जाता है। इन सब का मूल स्वत्व की इच्छा और इसके फलस्वरूप फल की कामना है जिसका माध्यम हैं दृढ़ शक्ति एवम् कार्य। स्वत्व लगातार इच्छा और कार्य जारी रखता है, उसका फल पाता है और इसके फलस्वरूप वह कार्य करते हेतु पुनः इस संसार में आता है। पुनर्जन्म के सभी मार्ग स्वयं स्वत्व द्वारा और उसकी अपनी इच्छाओं के द्वारा ही प्रभावित हैं और यदि यह इच्छा की समाप्ति करता है, तो यह पुनर्जन्म से पीड़ित नहीं होता और अमर हो जाता है। इस सिद्धांत की सबसे विशिष्ट विशेषता यह है कि यह कर्म को नहीं अपितु इच्छा को पुनर्जन्म के कारण के रूप में संदर्भित करता है। कर्म ही इच्छाओं और पुनर्जन्म को जोड़ने की कड़ी के रूप में आता है – यह कहा जाता है कि एक आदमी जो कुछ इच्छा करेगा उसके लिए वह इच्छाशक्ति करेगा और जो कुछ वह इच्छाशक्ति करेगा, उसके लिए कार्य करेगा। (दासगुप्ता, सुरेंद्रनाथ, 2004, पृ. 55-56)।

स्थानांतरणगमन (Transmigration) के सिद्धांत की किसी भी तरीके से व्याख्या की जाएं, इसने जीवन के रूपों को एक ही प्रणाली द्वारा जोड़ा। यहां तक कि देवताओं को भी पुनर्जन्म से गुज़रना पड़ा। जैसे ही एक इन्द्र की मृत्यु हुई, दूसरे का जन्म हुआ। यही नियम पशुओं, कीट-पंतगों और पौधों पर लागू होता है।

कर्म इसका एक निकटतम सिद्धांत है। मनुष्य के पिछले जन्म के कार्य इस दुनिया में उसके जन्म का निर्धारण करते हैं। बुरे *कर्मों* से निम्न स्तर पर जन्म होता है और जीवन में अच्छे कर्मों से, तपश्चर्या से उच्चतम जन्म होता है। यह सिद्धांत सभी भारतीय विचारों की आधारशिला बन गया। अब, दुख को आसानी से कर्मों के परिणाम के रूप में समझाया जा सकता था। इसी प्रकार सामाजिक असमानताओं को भी न्यायोचित ठहराया जा सकता था। कई लोगों के लिए कर्मों के परिणाम का सिद्धांत अगले जन्म में एक बेहतर जीवन की सम्भावना दर्शाता है। भय और तनाव की स्थिति में यह एक विश्वास देता है। यद्यपि दूसरों के लिए मौत हमेशा भयानक थी। जन्म और मृत्यु के चक्र से बचने के लिए किसी मार्ग की आवश्यकता महसूस की गयी। चाहे पर्याप्त था या नही, जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण को तपश्चर्या और ध्यान के रूप में इसका उत्तर मिला।

11.4.3 मुक्ति का सिद्धांत

मुक्ति का विचार *उपनिषदों* में और विकसित हुआ। हम पहले से ही उन दो मार्गों को जानते हैं जिनके द्वारा मृत्यु के बाद आत्मन् यात्रा करती है। *पित्रयान कर्म* फल का आनंद आत्मन् को प्रदान करता है किन्तु आत्मन् फिर से पुनर्जन्म लेती है। *देवयान* में श्रद्धा और तपश्चर्या का मार्ग जो अपनाते हैं, वे देवताओं के मार्ग पर जाते हैं, वे पुनर्जन्म की पीड़ा से मुक्ति प्राप्त कर वापिस नहीं लौटते। *मुक्ति* अनंतता की एक स्थिति है जब मनुष्य स्वयं को जानता है और इस तरह *ब्रह्मन्* को प्राप्त कर लेता है। अज्ञानी के लिए पुनर्जन्म ही एकमात्र विकल्प है, जिसकी कोई इच्छा नहीं है, और स्वयं को सभी लालसाओं से अभिमुक्त कर देता है वह *ब्रह्मन्* के साथ एकसार हो जाता है।

बोध प्रश्न 1

1) छठी शताब्दी बी.सी.ई. के समाज और धर्म की कौन सी विशेषतायें थी जिनसे तपश्चर्या का जन्म हुआ?

....

....

....

....

....

2) उपनिषदों के *आत्मन्-ब्रह्मन्* के सिद्धांत की 100 शब्दों में चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

....

11.5 *शड्दर्शन* या दर्शन की छह प्रणालियाँ

हिन्दू दर्शन प्रणाली दार्शनिक विचारों को दो भागों में विभाजित करती है : *नास्तिक* और *आस्तिक*। *नास्तिक* का शाब्दिक अर्थ है ना *अस्ति* (ऐसा नहीं है)। वे वेदों को सर्वोच्चज्ञान के रूप में नहीं देखते और न ही अपनी वैधता उन पर स्थापित करने की कोशिश करते हैं। प्रमुखता संख्या में वे तीन हैं : बौद्ध, जैन और चार्वाक। आस्तिक – मत या रूढ़िवादी – मत संख्या में छह हैं। इनमें *सांख्य, योग, वेदांत, मीमांसा, न्याय* और *वैशेषिक* हैं। इन्हें *दर्शनशास्त्र या शडदर्शन* की छह प्रणालियां भी कहा जाता है। इनके मूल और उद्देश्य अलग हैं किन्तु बाद में इन्हें मोक्ष का समान रूप से वैध तरीका मान लिया गया। उन्हें दो के तीन समूहों में बांटा गया, जिन्हें एक दूसरे से संबंधित और पूरक समझा गया था। ये थे : *न्याय* और *वैशषिक, सांख्य* और *योग* और *मीमांसा* और *वेदांत*। विचारों की इन सब प्रणालियों की मुख्य विशेषताओं की स्पष्ट व्याख्या प्रोफेसर ए. एल. बैशम (2004) द्वारा की गयी है, जिन्हें नीचे संक्षेप में दिया गया है।

न्याय

न्याय का अर्थ है विश्लेषण। यह *धर्मशास्त्र* के बजाय तर्क और ज्ञान मीमांसा का मत है। इसके प्रवर्तक अक्सपाद गौतम थे। इसके *सूत्र* ईसाई युग में दिनांकित हैं। इसमें विश्वास किया गया है कि स्पष्ट विचार और तार्किक तर्क-वितर्क परम् आनंद प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। यह वास्तव में तर्क की एक प्रणाली है जिसे धार्मिक आधार दिया गया।

वैशेषिक

यह व्यक्तिगत विशेषताओं का मत था। यह मत न्याय से पूर्व का है, किन्तु इसका पूरक भी है। मध्यकाल में दोनों एक मत में विलीन हो गये। *वैशेषिक सूत्र* भौतिकी और मींमासा के साथ संलग्न है। संस्थापक जो आरम्भिक सूत्रों के लिए उत्तरदायी था, उलूक कणाद है। इसकी बौद्ध तथा जैन मतों से कुछ समानताएं हैं। उनका मानना है कि प्रकृति आणविक

है। अणु आत्मन् के साधन हैं। आत्मन् अणुओं से अलग है। मोक्ष ब्रह्मांड की आणविक प्रकृति और आत्मन् से उसके अंतर को साकार करने पर निर्भर करता है। *वैशेषिक* के बुनियादी सिद्धांत इस तरह से हैं : प्रत्येक तत्व की व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं जिन्हें '*विशेष*' कहा जाता है। इन्हें चार गैर आणविक विशेषताओं से अलग प्रतिष्ठित किया जिन्हें द्रव्य (समय, स्थान, आत्मन् और मन) कहा गया। अणु शाश्वत हैं, लेकिन महान विघटन के अंत में *ब्रह्मन्* की मृत्यु के साथ अणु एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। नया *ब्रह्मन्* पुराने अणुओं के उपयोग से एक नई दुनिया को आकार देता है। इस प्रकार *वैशेषिक* तत्व और आत्मन् के द्वैतवाद में विश्वास करता है।

सांख्य

सांख्य का अर्थ है गणना। यह छह प्रणालियों के सबसे पुराना मत है और *उपनिषदों* में प्रारंभिक रूप में मिलता है। प्राचीन ऋषि कपिल इसके संस्थापक थे। गहन द्वैतवाद और मौलिक नास्तिकता के सम्बन्ध में इसमें जैन धर्म के साथ बहुत कुछ साझा किया। उन्होंने ब्रह्मांड के विकास का उल्लेखनीय सिद्धांत सरल शब्दों में प्रतिपादित किया। ये सिद्धांत इस प्रकार है : पच्चीस बुनियादी सिद्धांत (*तत्व*) हैं जिनमें पहली *प्रकृति* है और अंतिम *पुरुष* है। सृष्टि या उद्भव किसी भी देवत्व के कारण नहीं हुआ बल्कि *प्रकृति* के अंतर्निहित विशेषता के कारण हुआ है। *पुरुष* 'व्यक्ति' है या आत्मन्। *पुरुष प्रकृति* पर आश्रित नहीं है और ऐसे ही *प्रकृति* भी। ब्रह्मांड *आत्मन्* से रहित है, और उसका उद्भव अभी जारी है। आत्मन् तत्व के साथ सम्मिलित हो जाती है, और उसके अपने अंतर को अनुभव करने पर मोक्ष निर्भर है। *सांख्य* मीमांसा की बहुत ही महत्वपूर्ण विशेषता तीन घटक गुण सिद्धांत है, जिससे सदाचार (*सत्त्व*), लगन (*रजस*), और नीरसता (*तमस*) उत्पन्न होती है। जब लौकिक ब्रह्मांड एक अविकसित अवस्था में होता है, तो तीन घटक गुण संतुलन में होते हैं। संसार के उद्भव में एक या दूसरा गुण अन्य पदार्थों या प्राणियों पर प्रभुत्व स्थापित करता है और गुणों का अनुपात ब्रह्मांड के मूल्यों का कारण होता है। बाद में इस तिहरे वर्गीकरण का भारतीय जीवन और विचार पर गहरा प्रभाव पड़ा।

योग

इसे 'आध्यात्मिक अनुशासन' या 'प्रयोग' के रूप में अनुवादित किया गया है। इसमें सभी प्रकार के धार्मिक अभ्यास और भारतीय धर्मों में मौजूद आत्म निग्रह के कृत्य शामिल है। इसको मानने वाले अनुयायी को *योगी* कहा जाता है। हालांकि *योग* विचार के प्रत्येक मत का हिस्सा था, परन्तु यह एक अलग प्रणाली है जिसमें मानसिक प्रशिक्षण मोक्ष का प्रमुख माध्यम है। पंतजलि की *योगसूत्र* इसका मूल ग्रंथ है। पंतजलि एक प्रसिद्ध व्याकरणविद हैं जो दूसरी शताब्दी बी.सी.ई. में हुए थे। सांख्य मत के साथ योग आधिभौतिक विचारों को साझा करता है लेकिन यह इस में भिन्न है कि वह परमात्मा को स्वीकार करता है। योग मत के लिए ईश्वर एक महान सत्ता हैं जो 'ओम' के पवित्र शब्दांश में उपस्थित हैं। जो ध्यान में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और आत्मन् की उदात्त शुद्धता में अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। इस प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम को आठ चरणों में बांटा गया है :

1) आत्म-सयंम (*यम*)
2) अनुपालन (*नियम*)
3) शरीर-मुद्रा (*आसन*)
4) श्वास का नियंत्रण (*प्राणायम*)
5) निग्रह (*प्रत्याहार*)

6) मन की स्थिरता (*धारणा*)

7) ध्यान (*ध्यान*)

8) गहन-ध्यान (*समाधि*)

आध्यात्मिक शक्ति और मोक्ष प्राप्त करने की विधि योगिक अभ्यास के माध्यम से सम्भव है जिसका उद्देश्य *कुंडलिनी* जागृत करना है। यह कैसे होता है : शरीर की मुख्य नाड़ी को *सुसुमना* कहा जाता है। यह मेरुदड के साथ-साथ होती है। इसके पथ के साथ छह चक्र या आध्यात्मिक ऊर्जा का संकेद्रण होते हैं। इस नाड़ी के शीर्ष पर, मस्तक (कपाल) के अंदर *सहस्रार* है जिसे कमल भी कहते हैं, जो एक अति शक्तिशाली मानसिक केंद्र है। इस क्रम में सबसे नीचे जननांगों के पीछे *कुंडलिनी* नामक *चक्र* होता है 'सर्प शक्ति', यह सुप्त स्थिति में रहती है। योग शक्तियों द्वारा *कुंडलिनी* जागृत होती है और *सुसुमना* नाड़ी तक उठती है, मानसिक शक्ति के छहों 'चक्रों' से गुज़रती है और सर्वोच्च *सहस्रार* के साथ एकसार हो जाती है। ऐसा होने पर *मोक्ष* प्राप्त हो जाता है।

मीमांसा

यह प्रतिपादन या व्याख्या का एक मत है। इसके आरम्भिक रचना जैमिनी (दूसरी शताब्दी बी.सी.ई.) के *सूत्र* हैं। वे वेदों को शाश्वत, आत्म आस्तित्वपूर्ण और पूर्णतः प्रामाणिक के रूप में समझते हैं। इससे तर्क, अर्थ-विज्ञान और द्वंद्ववाद का विकास इस मत में हुआ। इसने सातवीं ओर आठवीं शताब्दियों में मोक्ष का पूर्ण दर्शन विकसित किया। उनके अनुसार *वेद* और उनके नियमों का पालन और सम्मान मोक्ष के लिए पहला आवश्यक कदम है। बाद में इस मत का *वेदांत* के साथ विलय हुआ।

वेदांत

वस्तुतः इसका अर्थ *वेदों* का अंत है। इसे *उत्तर मीमांसा* भी कहा जाता है। *वेदांत* के सिद्धांत *उपनिषदों* और *बदरायण* के *ब्रह्म सूत्र* पर आधारित हैं। शास्त्रीय *वेदांत* महान दार्शनिक शंकर (788-820) द्वारा प्रतिपादित है जिन्होंने *ब्रह्म सूत्र* और *उपनिषदों* पर विस्तृत टिप्पणियां की। शंकर के सिद्धांत को प्रायः अद्वैत भी कहा जाता है [किसी अन्य को अनुमति नहीं देना', यानि एकत्ववाद या केवलाद्वैत (कठोर एकत्ववाद)]। वे 'सत्य के दोहरे मानक' के विचार में विश्वास करते थे। इसके अनुसार, सत्य के दैनिक स्तर पर, ब्रह्मा द्वारा विश्व का निर्माण किया जाता है। यह उद्भव की विकासवादी प्रक्रिया से गुज़रता है। जो सांख्य मत में भी उपस्थित है, जिससे उसने तीन गुण का सिद्धांत लिया। किन्तु सत्य के सर्वोच्च स्तर पर, देवताओं सहित पूरा ब्रह्मांड, माया *है*, भ्रम है। अंततः एकमात्र यथार्थ *ब्रह्मन्* ही है, *उपनिषदों* की परम *आत्मन्* जिसके साथ वैयक्तिक *आत्मन्* समरूप है। ध्यान के द्वारा जब दोनों में समरूपता स्थापित होती है तब मोक्ष प्राप्त होता है।

11.6 नास्तिक विचारों के मत

उपनिषदों के सिद्धांत रूढ़िवादी परंपरा का हिस्सा था। किन्तु कुछ ऐसे भी लोग थे जो ब्राह्मणवादी धार्मिक विचारों पर विश्वास नहीं करते थे और उन्होंने तत्वमीमांसा और दर्शन के अपने सिद्धांत प्रतिपादित किये। आइए हम इन विधर्मिक संप्रदायों पर चर्चा करें, जो नास्तिक विचारों का मत बनाते हैं।

11.6.1 बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म की स्थापना छठी शताब्दी बी.सी.ई. में बुद्ध ('प्रबुद्ध' या 'जाग्रत') द्वारा की गई थी। गौतम की कथा तथा उनकी प्रबुद्धता के प्रति आकांक्षा और उनकी शिक्षाओं का वर्णन इकाई 12 में किया जाएगा। यहां हम बौद्ध विचार के अभौतिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर चर्चा करेंगे।

पाली धर्मसिद्धान्तों को परख कर उसे तीन परिषदों राजगृह, वैशाली, और पाटलिपुत्र में संहिताबद्ध किया गया। श्रीलंका में राजा वत्तागमानी (89-77 बी.सी.ई.) के शासनकाल के दौरान यह लिखा गया। पिटक और उसकी समीक्षाएं, अर्ध धर्मवैधानिक कार्य, साहित्य का एक बड़ा हिस्सा बनाती हैं, पद्य (कविता) इतिवृत रूप जिसने बौद्ध नैतिकता और दर्शन के बारे में पर्याप्त धारणाएं प्रस्तुत की। इस मत की बुनियादी धारणाएं इस प्रकार हैं : जीवन में *दुःख* (पीड़ा) निहित है। इसकी समाप्ति 'प्यास' (अक्सर *तनहा, तृष्णा* के रूप में अनुवादित) को त्याग कर की जा सकती है। जिसमें व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, इच्छा, लालसा और सभी प्रकार के स्वार्थ शामिल हैं। तृष्णा को रोका जा सकता है। आसक्ति और तपश्चर्या के चरम को छोड़कर मध्य का मार्ग जो अपनाता है और नैतिक और अच्छे जीवन की ओर अग्रसर करता है वह तृष्णा को रोक सकता है। इन शिक्षाओं के लिए केंद्रीय सिद्धांत है 'निर्भर व्युत्पति की श्रृंखला' (**पटिच्चयमुप्पाद**)। यह बारह शब्द या स्थितियां है जो एक के बाद एक में अग्रसर होती है और अंत में दुःख और पीड़ा की समाप्ति होती है। इस सिद्धांत का केंद्र है – दुःख या दर्द जो अज्ञान के कारण है – यह एक प्रकार की लौकिक अज्ञानता है जो आत्मसमर्पण के भ्रम की ओर जाती है। यह अज्ञान ब्रह्मांड की मौलिकता का एक पहलू है जो इस प्रकार हैः यह शोक (दुःख) से भरा है; यह क्षणिक (*अनिच्चय*) है; और यह भावशून्य (*अनत्ता*) है।

ब्रह्मांड क्षणिक है। प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु क्षणिक है। मानव पांच मनोदैहिक तत्वों का एक यौगिक है – शरीर, भावनाएं, संवेदनायें, मन की स्थिति, और अभिज्ञता। ये पांच तत्व क्षण प्रतिक्षण भिन्न होते हैं और नए विन्यास बनाते हैं। उदाहरण के लिए एक बूढ़ा व्यक्ति वैसा नहीं है जैसा सत्तर साल पहले किसी की आंचल में था। वास्तव में व्यक्ति एक मिनट पहले के व्यक्ति के रूप में भी नहीं है। हर पल व्यक्ति बदल रहा है और एक नए व्यक्ति की ओर अग्रसर है जिसका कारण वही पहला व्यक्ति है। यह कारण और प्रभाव की श्रृंखला है जो एक स्थिति को दूसरे से जोड़ती है। ब्रह्मांड निरंतर प्रवाह की स्थिति में है। स्थायित्व के बारे में सभी विचार अज्ञान से उत्पन्न होते हैं जो दुखों के स्रोत्र हैं।

बौद्ध धर्म *आत्मन्* में विश्वास नहीं करता। ब्रह्मांड आत्मशून्य है। यहां तक कि देवता भी आत्म-शून्य हैं। स्थानांतरगमन में एक जीवन से दूसरे में कुछ भी नहीं जाता। वहां केवल कारण और प्रभाव की एक श्रृंखला है, जिसमें नए में पुराना सम्मिलित है। यदि एक जीवन से दूसरे जीवन में कुछ संचरित नहीं होता, और यदि स्थानांतरगमन में शक्ति है, तो कैसे एक जीवन के बुरे कर्मों से दूसरे को प्रभावित करने वाले बौद्ध सिद्धांत की व्याख्या की जा सकती है? बौद्धों के अनुसार, इसका उत्तर यह है कि कारण और प्रभाव की श्रृंखला के परिणामस्वरूप, व्यक्ति द्वारा पहले किया गया बुरा कार्य उसके वर्तमान अस्तित्व को प्रभावित करता है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि पहले और बाद के व्यक्ति में कितना अंतर है।

केवल *निर्वाण* (पालि में *निब्बान*) ही स्थिर तत्व है। यह आनंद की स्थिति है, जब एक सच्चे ज्ञान का अनुभव होता है। *निर्वाण* ब्रह्मांड के बाहर है और इसका हिस्सा नहीं है। इस प्रकार इस विरोधाभास की व्याख्या की जा सकती है कि ब्रह्मांड एक निरंतर प्रवाह की स्थिति में है और *निर्वाण* विश्राम (स्थायित्व) की स्थिति में है।

11.6.2 जैन धर्म

वर्धमान जैन धर्म के 24वें *तीर्थंकर* थे और उनके अनुयायी उनको महावीर ('द ग्रेट हीरो') के रूप में जानते थे। उन्होंने तीस वर्ष की आयु में सांसारिक जीवन का त्याग किया। सबसे पहले उन्होंने *निर्ग्रन्थों* (बेड़ियों से मुक्त') के मार्ग का अनुसरण किया जिसकी स्थापना लगभग 200 साल पहले पार्श्वनाथ ने की थी। महावीर के अनुयायियों द्वारा *निर्ग्रन्थ* शब्द का प्रयोग किया गया था।

बौद्ध धर्म के समान जैन धर्म मुख्य रूप से इस अर्थ में नास्तिक है कि देवताओं की उपस्थिति स्वीकार की जाती है, लेकिन वे सार्वभौमिक योजना में पर्याप्त महत्वपूर्ण नहीं हैं। विश्व सार्वभौमिक नियमों के अनुसार कार्य करता है किसी देवता की इच्छा के अनुसार नहीं।

ब्रह्मांड जीवित आत्मन्ओं (*जीव*, शाब्दिक रूप से जीवन), और गैर-जीवित तत्वों की पांच श्रेणियों (*अजीव*) के मध्य की पारस्परिक क्रिया के कारण कार्य करता है। सभी जीवित प्राणियों में *आत्मन्* होती है, किन्तु जैन धर्म के अनुसार, पत्थर, चट्टानों, बहते पानी जैसी सभी निर्जीव वस्तुओं में भी *आत्मन्* होती है। ब्रह्मांड में अनंत संख्या में *आत्मन्एं* हैं। *कर्म* एक सूक्ष्म पदार्थ है जो कि उत्कृष्ट आणविक रूप में एक व्यक्तिगत *आत्मन्* से जुड़ा रहता है जो इसे अन्य *आत्मन्आओं* से अलग बनाता है। किसी प्रकार के कार्य कलाप *कर्म* की ओर ले जाते हैं। क्रूरता के कार्य द्वारा अधिक कर्म उत्पन्न होता है। पहले से प्राप्त किये कर्म और अधिक कर्मों के अधिग्रहण की ओर ले जाते हैं, और इस प्रकार स्थानांतरगमन का चक्र जारी रहता है। कर्म जो पहले से ही आत्मन् के साथ जुड़े हैं उन्हें दूर करके स्थानांतरगमन से बचा जा सकता है। यह भी सुनिश्चित करना होता है कि आगे कोई *कर्म* प्राप्त ना हो। कर्म का सर्वनाश (*निर्जर*) तपस्या के माध्यम से किया जाता है, और आत्मन् में कर्म अंतर्प्रवाह (*आस्रव*) की रोकथाम (*संवर*) और कर्मों के स्थिरीकरण (*बंध*) को अनुशासनात्मक आचरण द्वारा सुनिश्चित किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप यह खतरनाक परिमाण तक नहीं पहुंचता है और तुरंत बिखर जाता है। जब *आत्मन्* अंततः मुक्त हो जाती है तो यह स्वर्ग की उचाईयों तक ब्रह्मांड के शीर्ष पर पहुँच जाती है, जहां यह अनंत काल तक परम आनंद में रहती है। जैनियों के लिए यही *निर्वाण* है।

जैनियों के लिए *निर्वाण* प्राप्त करने के लिए मठवासी जीवन आवश्यक है। उपवास, आत्म-निग्रह और ध्यान के माध्यम से *निर्वाण* प्राप्त किया जा सकता है। सभी अतिरिक्त कर्मों को कठोर अनुशासन के माध्यम से दूर किया जा सकता है। साधारण व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। *निर्वाण* प्राप्त करने के लिए नग्नावस्था आवश्यक है।

एक जैन भिक्षु का जीवन पाँच प्रतिज्ञाओं द्वारा नियमित होता है : अहिंसा, चोरी नहीं करना (*अस्तेय*), सत्य, ब्रह्ममचर्य और संपति पर कब्जा नहीं करना (*अपरिगृह*)। हत्या या क्षति का कार्य *कर्म* के अंतर्प्रवाह का सबसे प्रबल कारण है इसलिए इससे बचा जाना चाहिए। कृषि निषिद्ध है क्योंकि खेती और कटाई से पौधों और मिट्टी में जीवन का नाश होता है। अहिंसा के सिद्धांत में जैन धर्म अन्य धर्मों की तुलना में बहुत आगे पहुँच गया। उनका मानना था कि कोई भी कार्य, चाहे अनजाने में ही क्यों न किया हो, अगर दूसरों को चोट पहुंचाता है, तो यह पाप है और *कर्म* की ओर ले जाता है।

11.6.3 संशयवाद और भौतिकवाद

छठी शताब्दी बी.सी.ई. में महावीर, गौतम बुद्ध, गोशाल सहित अन्य कई उपदेशकों द्वारा वाद-विवाद में सक्रिय भागीदारी देखी गई। इस समय से भौतिकवादी मत लोकप्रिय होने

लगे। इस मत के अनुसार, सभी धार्मिक अनुपालन और नैतिकता निरर्थक थे। एक व्यक्ति को जीवन का पूरा आनंद लेना चाहिए और अधिक से अधिक खुशियाँ मनानी चाहिए। बौद्ध और जैन धर्म के मितव्ययी गुणों को अस्वीकार कर दिया गया। सहवर्ती दुख के कारण मनुष्य को सुख का त्याग नहीं करना चाहिए। जिस तरह वह मकई के साथ कभी-कभी भूसी (छिलका) स्वीकार करता है, उसी तरह उसे जीवन की खुशियों के साथ कभी-कभी दुःख को भी स्वीकार करना चाहिए।

इस काल के कई उपदेशक देवताओं की प्रधानता में विश्वास नहीं करते थे। उनके अनुसार देवता सीमित शक्तियाँ रखने वाले केवल उत्कृष्ट प्राकृतिक प्राणी थे। सभी स्थानांतरगमन के सिद्धांत में विश्वास करते थे, हालांकि इसकी प्रक्रिया के बारे में अलग-अलग व्याख्या की गई थी।

बोध प्रश्न 2

1) दर्शन की छह प्रणालियाँ क्या हैं? स्पष्ट कीजिए।

2) निम्नलिखित कथनों के सामने सत्य (✓) या असत्य (✗) चिन्हित कीजिए :

   1) *उपनिषदों* में बुद्ध की शिक्षाएँ हैं।

   2) *आत्मन्* की अवधारणा का अर्थ था व्यक्तिगत *आत्मन्*।

   3) विधर्मी संप्रदाय *वेदों* की सत्ता के खिलाफ थे।

   4) *सांख्य* स्कूल दर्शने की छह प्रणालियों में सबसे पुराना था।

   5) *वेदांत* शब्द का अर्थ है '*वेदों* का अंत'।

   6) पाली धर्मसिद्धान्त चीन में लेखन के लिए प्रतिबद्ध था।

   7) बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धांत को *पटिच्चसमुप्पाद* कहा जाता है।

   8) जैन धर्म प्रकृति में नास्तिक नहीं है।

11.7 सारांश

छठी शताब्दी बी.सी.ई. तीव्र परिवर्तनों का युग था। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्तरों पर होने वाले घटनाक्रम सामाजिक ताने-बाने को तोड़ रहे थे। वैदिक धर्म खर्चीला और दुर्भर हो गया था। वैदिक अनुष्ठान और बलि के विरोध के स्वरों के कारण विधर्मी संप्रदायों का उदय हुआ। उनके लिए सामूहिक अनुष्ठान नहीं बल्कि व्यक्ति और उसके लिए मोक्ष की खोज मायने रखती थी। इसके अलावा, ब्रह्मांड में व्यक्ति के स्थान, स्वत्व के अर्थ, और चेतना की उत्पत्ति के बारे में प्रश्न बहुत से लोगों को तपश्चर्या की ओर मोड़ रहे थे। सर्वोच्च सत्य को प्राप्त करने की उत्कंठा थी जिससे सभी दुखों, अनिश्चितताओं और शंकाओं की समाप्ति हो जाए। इसके परिणामस्वरूप चिंतनशील (मीमांसात्मक) सिद्धांतों की बहुलता का उदय हुआ। वन में एकांतवासी लोगों ने भी रूढ़िवादी ढांचों के भीतर तपश्चर्या को चुना। मुख्यतः उनके मध्य से *उपनिषद* साहित्य का विकास हुआ।

11.8 शब्दावली

अहिंसा : हानि नहीं पहुँचाना, हिंसा नहीं करना

आश्रम : जीवन के चार चरण – *ब्रह्मचर्य* (ब्रह्मचर्य विद्यार्थी); *गृहस्थ* (गृहस्थ अवस्था); *वानप्रस्थ* (आंशिक त्याग); और *संन्यास* (पूर्ण त्याग)।

आत्मन : *उपनिषदों* के अनुसार, स्वत्व के भीतर का अविनाशी अंतिम यथार्थ

भिक्खु : पाली (संस्कृत - *भिक्षु*), भिक्षा माँगकर जीवन यापन करने वाला; एक बौद्ध या जैन भिक्षु

ब्रह्मन् : *उपनिषदों* के अनुसार, ब्रह्मांड का अविनाशी, परम वास्तविक सत्य,

चार्वाक : एक नास्तिक भौतिकवादी दार्शनिक मत, जिसे *लोकायत* भी कहा जाता है।

दर्शन : शाब्दिक 'दृष्टि'; दर्शन

कर्म : सिद्धांत जिसके अनुसार कार्यों के परिणाम होते हैं जो वर्तमान और भविष्य के जीवन को निर्धारित करते हैं।

मोक्ष : जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति

निब्बना : संस्कृत में *निर्वाण*। बौद्ध दर्शन में प्रयुक्त एक शब्द जिसका अर्थ है जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति।

परिबज्जका : (पाली)। पथिक, त्यागी।

पटिच्चसमुप्पाद : (पाली)। निर्भर व्युत्पति का नियम; बौद्ध शिक्षण का एक हिस्सा।

तीर्थकर : (शाब्दिक) - अरिहंत; एक जैन संन्यासी।

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 11.2 देखें।

2) उपभाग 11.4.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 11.5 देखें।

2) 1) ×
   2) ✓
   3) ✓
   4) ✓
   5) ✓
   6) ×
   7) ✓
   8) ×

11.10 उपयोगी पुस्तकें

ब्लैक, ब्रायन, (दिनांक नहीं). उपनिषद, *इंटरनेट इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसफी*। ISSN-2161-0002.https;//www.iep.utm.edu/

दासगुप्ता, सुरेंद्रनाथ (2004). *ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी.* वॉल्यूम 1. प्रोजेक्ट गुटेनबर्ग।

सिंह, उपिंदर (2008). *ए हिस्ट्री ऑफ एंशिएट एंड अर्ली मेडीवल इंडिया.* डोरलिंग किंडरस्ले।